श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता तृतीय अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(न्)

तृतीयोऽध्याय:

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते, मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं(ङ्) कर्मणि घोरे मां(न्), नियोजयसि केशव ॥ 1 ॥

अर्जुन बोले- हे जनार्दन! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन, बुद्धिं(म्) मोहयसीव मे ।

तदेकं(वँ) वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 2 ॥

आप मिले हुए-से वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए उस एक बात को निश्चित करके कहिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां(ङ्), कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ 3 ॥

श्रीभगवान बोले- हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है। उनमें से सांख्य योगियों की निष्ठा तो ज्ञान योग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है

न कर्मणामनारम्भान्-नैष्कर्म्यं(म्) पुरुषोऽश्नुते ।

न च सन्न्यसनादेव, सिद्धिं(म्) समधिगच्छति ॥ 4 ॥

मनुष्य न तो कर्मों का आरंभ किए बिना निष्कर्मता को यानी योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है

न हि कश्चित्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः(ख्) कर्म, सर्वः(फ्) प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ 5 ॥

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है

कर्मेन्द्रियाणि सं(य्ँ)यम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः(स्) स उच्यते ॥ 6 ॥

जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात दम्भी कहा जाता है

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः(ख्) कर्मयोग-मसक्तः(स्) स विशिष्यते ॥ 7 ॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है

नियतं(ङ्) कुरु कर्म त्वं(ङ्), कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ 8 ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं(ङ्) कर्मबन्धनः ।

तदर्थं(ङ्) कर्म कौन्तेय, मुक्तसं(ङ्)गः(स्) समाचर ॥ 9 ॥

यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मुनष्य समुदाय कर्मों से बँधता है। इसलिए हे अर्जुन! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर

सहयज्ञाः(फ्) प्रजाः(स्) सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्व-मेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ 10 ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो

देवान्भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं(म्) भावयन्तः(श्), श्रेयः(फ्) परमवाप्स्यथ ॥ 11 ॥

तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे

इष्टान्भोगान्हि वो देवा, दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ 12 ॥

यज्ञ द्वारा बढ़ाए हुए देवता तुम लोगों को बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है, वह चोर ही है

यज्ञशिष्टाशिनः(स्) सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं(म्) पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ 13 ॥

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिए ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः(ख्) कर्मसमुद्भवः ॥ 14 ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं(वँ) विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं(म्) ब्रह्म, नित्यं(यँ) यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ 15 ॥

कर्मसमुदाय को तू वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है

एवं(म्) प्रवर्तितं(ञ्) चक्रं(न्), नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो, मोघं(म्) पार्थ स जीवति ॥ 16 ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है

यस्त्वात्मरतिरेव स्या-दात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्-तस्य कार्यं(न्) न विद्यते ॥ 17 ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है

नैव तस्य कृतेनार्थो, नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु, कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 18 ॥

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का संबंध नहीं रहता

तस्मादसक्तः(स्) सततं(ङ्), कार्यं(ङ्) कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म, परमाप्नोति पूरुषः ॥ 19 ॥

इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भलीभाँति करता रह क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है

कर्मणैव हि सं(म्)सिद्धि-मास्थिता जनकादयः ।

लोकसं(ङ्)ग्रहमेवापि, सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ 20 ॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे, इसलिए तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्-तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं(ङ्) कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ॥ 21 ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं(न्), त्रिषु लोकेषु किं(ञ्)चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं(वँ), वर्त एव च कर्मणि ॥ 22 ॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ

यदि ह्यहं(न्) न वर्तेयं(ञ्), जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः(फ्) पार्थ सर्वशः ॥ 23 ॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाए क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं

उत्सीदेयुरिमे लोका, न कुर्यां(ङ्) कर्म चेदहम् ।

सं(ङ्)करस्य च कर्ता स्या-मुपहन्यामिमाः(फ्) प्रजाः ॥ 24 ॥

इसलिए यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ

सक्ताः(ख्) कर्मण्यविद्वां(म्)सो, यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वां(म्)स्तथासक्तश्-चिकीर्षुर्लोकसं(ङ्)ग्रहम् ॥ 25 ॥

हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे

न बुद्धिभेदं(ञ्) जनये-दज्ञानां(ङ्) कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि, विद्वान्युक्तः(स्) समाचरन् ॥ 26 ॥

परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाए

प्रकृतेः(ख्) क्रियमाणानि, गुणैः(ख्) कर्माणि सर्वशः ।

अहं(ङ्)कारविमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते ॥ 27 ॥

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है

तत्त्ववित्तु महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त, इति मत्वा न सज्जते ॥ 28 ॥

परन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्व को जानने वाला ज्ञान योगी सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः(स्), सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्-कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ 29 ॥

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणों में और कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझने वाले मन्दबुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी विचलित न करे

मयि सर्वाणि कर्माणि,सं(न्)न्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ॥ 30 ॥

मुझ अन्तर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर

ये मे मतमिदं(न्) नित्य-मनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ 31 ॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो, नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढां(म्)स्तान्-विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 32 ॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खों को तू सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और नष्ट हुए ही समझ

सदृशं(ञ्) चेष्टते स्वस्याः(फ्), प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं(यँ) यान्ति भूतानि, निग्रहः(ख्) किं(ङ्) करिष्यति ॥ 33 ॥

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्-तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ 34 ॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः(फ्), परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं(म्) श्रेयः(फ्), परधर्मो भयावहः ॥ 35 ॥

अच्छी प्रकार आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं(म्), पापं(ञ्) चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः ॥ 36 ॥

अर्जुन बोले- हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाए हुए की भाँति किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ 37 ॥

श्री भगवान बोले- रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला अर्थात भोगों से कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तू इस विषय में वैरी जान

धूमेनाव्रियते वह्निर्-यथादर्शो मलेन च।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्-तथा तेनेदमावृतम् ॥ 38 ॥

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढँका जाता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढँका रहता है, वैसे ही उस काम द्वारा यह ज्ञान ढँका रहता है

आवृतं(ञ्) ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च ॥ 39 ॥

और हे अर्जुन! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले काम रूप ज्ञानियों के नित्य वैरी द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढँका हुआ है

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ 40 ॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि- ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं(म्) प्रजहि ह्येनं(ञ्), ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41 ॥

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल

इन्द्रियाणि पराण्याहु-रिन्द्रियेभ्यः(फ्) परं(म्) मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्-यो बुद्धेः(फ्) परतस्तु सः ॥ 42 ॥

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानी श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहते हैं। इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है

एवं(म्) बुद्धेः(फ्) परं(म्) बुद्ध्वा, सं(म्)स्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं(म्) महाबाहो, कामरूपं(न्) दुरासदम् ॥ 43 ॥

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात सूक्ष्म, बलवान और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल

इति* श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि* श्रीम*द्भगव*द्गीतापर्वणि*
श्रीम*द्भगव*द्गीतासूपनिष*त्*सु ब्रह्मवि*द्यायां(यँ)
योगशास्त्रे श्रीकृ*ष्णार्जुनसं(वँ)वादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुद*च्यते
पूर्ण*स्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि*ष्यते ।।
ॐ शांतिः(श्)शांतिः(श्)शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।